संपादकीय

मौन का महत्त्व

संसार में जैसे वाणी का महत्त्व है, वैसे ही मौन का भी। कभी बोलकर तो कभी चुप रहकर कार्य-व्यापार संपन्न किया जाता है। लेकिन बोलक्कड़ से बोलक्कड़ भी हमेशा बोलते नहीं रह सकता। इसी प्रकार सदा मौन रहने से भी काम नहीं चल पाता है। मौन व्रत धारण करने वाले, कम बोलने वाले, हमेशा चुप रहने लोग तो फिर भी समाज में मिल जाते हैं, लेकिन किसी ऐसे आदमी, जीव का अस्तित्व तथा देवता-ईश्वर की परिकल्पना नहीं है, जो सदैव ही बोलता रहता हो। कोई ठान ले तो हँसे बिना, रोए बिना, खाए बिना, सोए बिना रह सकता है, पर हमेशा ही हँसते, खाते, रोते, सोते कदापि नहीं रह सकता; थोड़ा-बहुत गैप करना ही पड़ता है। सामान्य जीवन जीने के लिए दोनों का संतुलन बनाना अच्छा रहता है। यों भी किसी भी चीज की अधिकता ठीक नहीं होती। एक अतिशयता के कारण ही अमृत भी विष बन जाता है। 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' की तर्ज पर रहीम कवि ने कहा है कि अधिक बोलना तथा अत्यधिक चुप्पी ठीक नहीं होती -

अति का भला न बोलना, अति की भली चुप।
अति का भला न बरसना, अति की भली न धूप।।

समाज में वाचाल लोगों की कमी नहीं है और कम बोलने वालों की संख्या भी सर्वत्र कुछ न कुछ रहती ही है। जब सीधे सवालों से अथवा कुछ कहने से बचना होता है, वहाँ चुप्पी का सहारा लिया जाता है। आदत-स्वभाव के अनुरूप कम बोलना या जरूरत के अनुरूप न बोलना अवगुण है। भूतपूर्व प्रधानमंत्री नरसिम्हाराव जी कम बोलने के लिए ख्यात थे, लेकिन श्री अटल बिहारी वाजपेयी उनकी चुप्पी को उनके भाषण से अधिक मुखर बताते थे। पूर्व प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह भी कम बोलते थे और अपनी खामोशी का औचित्य भी उजागर थे -

हजारों जवाबों से अच्छी है मेरी खामोशी,
न जाने कितने सवालों की आबरु रखी ।

यह प्रचलित शेर है, किंतु जब इसे मनमोहन सिंह ने उच्चरित किया जो इसका सौंदर्य अद्वितीय लगा, क्योंकि इसमें उनका पूरा व्यक्तिव एवं अंतरंग वाणी का विश्वास साफ झलकता था। सवाल है कि अभिव्यक्ति के माध्यम के तौर पर लिखने व बोलने के साधन उपलब्ध हैं, तो फिर मौन द्वारा अभिव्यक्ति की जरूरत क्यों? हम सब महसूस करते हैं कि कई बार न बोलना ही बहुत बड़ा बोलना होता है, ज्यादा प्रभावी होता है। अज्ञेय का तो 'मौन भी अभिव्यंजना है' पर पूरा भरोसा था। इस दुनियाँ में कुछ रोगग्रस्त तथा गूँगे लोगों के अलावे सब लोग प्रायः बोलते हैं। शिक्षक, वकील, नेता, प्रवक्ता, प्रवाचक जैसे बहुत सारे पेशेवर तो विशुद्ध व प्रत्यक्ष रूप में बोलने की ही कमाई खाते हैं, परंतु वास्तव में बोलना कितनों को आता है; यानी कब, कहाँ, कितना, कैसे व क्या बोलना है - इसका ठीक-ठीक अंदाज बहुत कम लोगों को होता है। फिर भी बोली द्वारा बहुत हद तक लोगों के व्यक्तित्व व विचार का पता चल जाता है, 'अंतर की करनी सबै, निकलै मुँह की बाट,' पर यह हमेशा जरूरी नहीं है, खासकर आजकल के दिखावाप्रधान-पाखंडपूर्ण समाज में इसके ठीक विपरीत भीतर कुछ रहता है और बाहर कुछ और व्यक्त होता है, 'मुख में राम बगल में छुरी' की कहावत ही ज्यादा चरितार्थ होती है, जबकि पहले की उक्तियों में वचन से सज्जन व दुर्जन की पहचान होने की बात कही गई है -

बोली एक अमोल है, जो कोई बोली जानि।
जानि परतु हैं काक पीक, वसंत ऋतु के माहिं।।

दुनियादारी वाले साधारण व्यवहार के लिए जरूरत के मुताबिक बोलना जरूरी व उपयोगी है, पर असाधारण जीवन जीने की तमन्ना रखने वालों के लिए यह आवश्यक नहीं। दूसरा, कम बोलने की आदत, रणनीतिवश चुप्पी और मौनव्रत धारण करने के बीच जमीन-आसमान का फर्क है। आज भी विशेष अवसर-आयोजनों पर ऐसे संत-महात्मा या साधक धुनी रमाये रहते हैं, जिन्होंने मौन की साधना की है, लंबे समय तक बिल्कुल भी न बोलने का रिकार्ड बनाया है। एकदम बोले बिना जीवन जीना मुश्किल है, पर इससे सिद्धि मिल सकती है। बक-बक करने वालों की बनिस्बत कम बोलने वालों की बातों में दम होता है। कभी न बोलने वाला यदि बोले, तो उसकी बात में ज्यादा वजन होगा, संभावनाएँ सृजित होंगी। आँखों पर सायास पट्टी बाँध लेने वाली गांधारी ने जब पट्टी हटाकर देखा तो दुर्योधन का शरीर पत्थर का हो गया। ऐसा गांधारी द्वारा लंबे समय तक न देखने से बची ऊर्जा के संचय के कारण हुआ। इसी प्रकार मौन की तप-साधना से शक्ति का संचय होता है और बोलते रहने से उसका व्यय-क्षय। इसलिए यदि पूर्ण मौन असंभव लगे, तो पहले वाणी पर नियंत्रण यानी फालतू न बोलने और जरूरत भर बोलने का सतत अभ्यास उपयोगी है। यों फालतू क्या है और जरूरत भर क्या है - इसके आकलन की क्षमता अर्जित करना बड़े विवेक का कार्य है। ध्यान रहे कि मुँह से किसी प्रकार का उच्चारण न करना ही मौन नहीं है, बल्कि बोलने की इच्छा, आकांक्षा, जरूरत व कोशिश को सदा-सदा के लिए खत्म करके सहजता से जीवन जीना पूरा मौन है।